



आव्रजन तथा सामाजिक गतिशीलता का स्वरूप (बोधगया के संदर्भ में एक अध्ययन)

चन्द्रकांति देवी

समाजशास्त्र विभाग, वी.आर.एस.वाई. कॉलेज, कन्हौली-पटना, (बिहार), भारत

Received- 13.08.2020, Revised- 16.08.2020, Accepted - 11.08.2020 E-mail: - dr.ramanyadav@gmail.com

सारांश : मानव जीवन से जुड़ी प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का इतिहास समाज के उत्थान-पतन, सांस्कृतिक संचयन, परिमार्जन और परिवर्तन का इतिहास रहा है। इतिहास परिस्थितिकीय घटनाओं से बंधी एक व्यवस्था क्रम की विवेचना करने में एक साक्ष्य प्रस्तुत करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व स्तर पर यदि देखा जाय तो सामाजिक, सांस्कृतिक एवं परिस्थितिकीय पृष्ठभूमि एक समान न होकर असमानता के दायरे में देखने को मिलती है। असमानता का स्वरूप आर्थिक व्यवस्थापन, राजनैतिक शक्ति, व्यावसायिक आदान-प्रदान तथा धर्म के क्षेत्र में व्याप्त रही है। मनुष्य स्वभाव से एक ऐसी प्राणी है जो सतत् प्रयत्नशील रहते हुए अपने चौरफेरे विकास की कल्पना करता है। इसी विकास के तलाश में मानव का स्थानान्तरण और रूपान्तरण सदैव होता रहा। इसके सतह में यदि देखा जाय तो व्यक्ति का जीवन अकेले भी प्रभावित हुआ तथा सामुदायिक स्तर पर भी यह घटना देखने को मिली। सामाजिक-सांस्कृतिक एवं परिस्थितिकीय सन्दर्भ में हमें आव्रजक समुदायों की भ्रमणशीलता की स्थिति को विकास के पैमाने पर रखकर सोचना है, क्योंकि यही विकास सामाजिक परिवर्तन की वास्तविक अमानत होगी।

कुंजीभूत शब्द- मानव जीवन, सामाजिक व्यवस्था, उत्थान-पतन, परिमार्जन, परिवर्तन, परिस्थितिकीय, घटनाओं।

भारतीय समाज और संस्कृति का गौरवमयी सन्दर्भ बहुत ही प्राचीन है। ऐतिहासिक दृष्टि बिन्दु से भी देखा जाय तो यह प्रतीत होता है कि विश्व की सारी संस्कृतियां और सम्यताएं विकास और पतन की गति प्राप्त करती रही, परन्तु भारतीय समाज और संस्कृति की परिस्थितिकीय विवेचना एक जीवन-दायिनी शक्ति के रूप में उभर कर विश्व समाजों को भी आकर्षित किया। भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक एवं परम्परावादी पृष्ठभूमि में यदि मुड़कर देखा जाय, तो यहां विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक तत्वों का एक अनुपम समन्वय देखने को मिलता है। इसमें दूसरों के सांस्कृतिक तत्वों को आत्मसात् करने और अपने भीतर उनको उपयुक्त स्थान प्रदान करने की अद्भुत शक्ति एवं क्षमता है, जिसमें हम अनेकता में एकता के परिमार्जित स्वरूप की छाया देखते हैं। ऐतिहासिक घटनाक्रम में देखा जाय तो आर्य, शक, हूण, कुषाण, पुर्तगाली, मुसलमान तथा अंग्रेज आदि कितने ही विदेशी सांस्कृतिक समूहों का भारतीय सीमा में समय-समय पर प्रवेश हुआ तथा उनकी संस्कृति एक-दूसरे से बहुत भिन्न रही, फिर भी भारतवर्ष में ये विदेशी संस्कृतियां निःसंकोच संश्लिष्ट होकर यहां की मूल संस्कृति में आत्मसात कर गयी, इसी सात्मीकरण के कारण ही भारतीय समाज एवं संस्कृति आज भी पारम्परिकता और आधुनिकता का समन्वय कायम कर रही है। इसमें इतनी विशालता, व्यापकता तथा विविधता देखने को मिलती है जिन्हें भौगोलिक, जलवायु, प्रजातीय, धर्म तथा भाषा की

भिन्नताओं आदि के रूप में देखा जा सकता है। भारतीय समाज में हिन्दू, मुसलमान, सिख, इसाई, फारसी, बौद्ध एवं जैन आदि विभिन्न सम्प्रदाय के लोग निवास करते हैं, जिनकी अपनी-अपनी भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार तथा धर्म एवं आदर्श एक दूसरे से पृथक हैं। बाह्य तौर पर यहां विषमता और अनेकता ही झलकती है, पर इसकी सतह में आधारभूत एकता ही एक शाश्वत सत्य की भांति देखने को मिलती है। इसकी पुष्टि भौगोलिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषायी एवं सामाजिक एकता से होती है और यही एकता भारतीयों के सामाजिक, सांस्कृतिक सामंजस्य एवं गतिशीलता को प्रोत्साहित करती है।

सामाजिक संरचना के अन्तर्गत संस्कृति के विभिन्न तत्वों के बीच अन्तः सम्बन्धों की प्रकृति से जो व्यवस्था बनती है, उसे सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं। संस्कृति के प्रत्येक प्रधान भाग को एक प्रतिमान के रूप में देखा जा सकता है। मैकाइवर एवं पेज (1952) ने सामाजिक व्यवस्था के संतुलन प्रारूप में मुख्य रूप से तीन तत्वों की विवेचना की है-प्रथम का सम्बन्ध भौतिकता तथा भौतिक जगत की आशाओं से है। दूसरा-धार्मिक कारक, धारणता, आस्था और विश्वास से बंधी एक पवित्र अवधारणा से है जबकि, तीसरा स्तर राजनैतिक शक्ति सन्तुलन और कानून की रचनाओं की विवेचना करते हुए आन्तरिक शान्ति सद्भाव और संगठन का निर्धारक तत्व है, जिसकी अभिव्यक्ति



निम्न रूपों में की जा सकती है, जिसे समायोजनात्मक एवं गतिशीलीकरण की प्रकृति को आब्रजक समुदायों के अध्ययन पर लागू किया जा सकता है।

वास्तव में संस्कृति किसी देश या समाज की आत्मा के साथ बंधी एक बहुमूल्य अमानत होती है। संस्कृति व्यक्ति के संस्कारों, सम्यक चेष्टाओं एवं उपलब्धियों का बोध कराती है, जिनके सहारे वह अपने सामूहिक या सामाजिक जीवन व्यवस्था, लक्ष्यों तथा आदर्शों का निर्माण करता है। यह संस्कृति विशिष्ट मानव समुदाय के उन उदात्त गुणों को प्रस्तुत करती है जो मानव जाति में सर्वत्र पाए जाते हैं। किसी समाज विशेष में उनका स्वरूप एक विशेषीकृत शैली को धारण किए हुए हैं, इसलिए भारतीय संस्कृति भी विशेष धारणता की परिचायक है।

संस्कृति ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, प्रथा तथा ऐसे ही अन्य क्षमताओं और आदतों का समुच्चय होती है जिसे मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है। आब्रजन एवं सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में आब्रजकों की सामाजिक एवं सांस्कृतिक विशेषताओं, सांस्कृतिक प्रतिमान जैसे, पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, मनो-सांस्कृतिक आदि के विश्लेषण से उनके रीति-रिवाज, परम्पराएं, भाषा तथा जीवनशैली आदि की समीक्षा की जा सकती है। अतः भारतीय संस्कृति, वेदों, स्मृतियों, धर्मशास्त्रों और नीतियों की गहन अनुभूति पर आधारित एक ऐसी व्यवस्था है जो भारतीय सामाजिक संस्थाओं में गहरी जड़े जमा चुकी है। भारतीय सामाजिक चेतनाएं, परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य और जीवन-लक्ष्य कुछ इस तरह हो गए हैं कि वे नैतिकता के आधार बन चुके हैं। जीवन के समस्त सामाजिक प्रतिमान उन्हीं के द्वारा संचालित और फलित होते हैं। उनकी प्रमाणिकता भी परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों पर ही आधारित है। एक गहरे छाप अथवा संस्कारों के रूप में व्यक्ति की अभिवृत्तियों, जगत दृष्टि प्रारूप एवं संस्थागत प्रतिमान इसी से निर्देशित एवं निरूपित होते हैं। जाति व्यवस्था और परिवार को यदि भारतीय समाज संरचना का समुच्चय मान लिया जाये तो इन दोनों संस्थाओं का आधार परम्परागत सांस्कृतिक मूल्य ही हैं। परम्परागत संस्कृति को हम धर्म का सम्प्रत्यय समझ सकते हैं। धर्म ही वह आधारशिला है जो व्यक्ति को सामाजिक संस्थाओं से सम्बद्ध करता है।

भारतीय संस्कृति में धर्म, साहित्य, आध्यात्मवाद, ज्ञान विज्ञान, विविध विधाएं, विविध नीतिगत विधान, जीवन प्रणालियों और वे समस्त क्रिया-कलाप सामाजिक रूप से समाहित है जो उसे विशिष्टता की श्रेणी में रखते हैं। ये समस्त कारक मानव के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक,

आर्थिक, व्यावसायिक एवं शिष्टाचार के ढंग को भी प्रभावित करते हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति की अपनी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो प्राचीनता, निरन्तरता, धर्म की प्रधानता, दार्शनिकता, देव परायणता, सहिष्णुता, ग्रहणशीलता, सर्वांगीणता तथा विभिन्नताओं में मौलिक एकता को स्थापित करती रहती है। यदि एकता भारतीयों की शक्ति है तो संस्कृति जीवन का प्रकाश है।

एक सामाजिक घटनाक्रम के रूप में देखा जाय, तो ब्रिटिश शासन काल से उत्तरोत्तर भारतीय सामाजिक व्यवस्था के आर्थिक सांस्कृतिक, राजनैतिक, तकनीकी एवं नवीन उत्पादन प्रणाली, श्रम के विशेषीकरण तथा नवीन वैचारिकी एवं उन्मेषों के फलस्वरूप परिवर्तन हुए। 20वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक, पृष्ठभूमि में ये परिवर्तन विशेष रूप से संस्कृति एवं परम्पराओं में सातत्य एवं परिवर्तन को नया स्वरूप प्रदान किए हैं। पारिवारिक परिधि से लेकर बाह्य समाज के सामाजिक सम्बन्धों एवं अन्तःक्रियाओं में अनवरत परिवर्तन की प्रक्रिया ने न केवल मनोवृत्तियों, दृष्टिकोणों, आचार व्यवहार प्रतिमानों को प्रभावित किये हैं, बल्कि व्यक्ति एवं समूह में नए मूल्य, विचार, जीवन-शैली एवं चिन्तन के ढंग को भी जागृत कर सांस्कृतिक विरासत तथा परम्परागत आधारों को स्थापित एवं निरूपित किये हैं। फलतः वर्तमान तकनीकी एवं औद्योगिक व्यवस्था पर आधारित नगरीय जीवन मूल्यों के बीच क्रियाशील जन-समुदाय वैज्ञानिक प्रत्यक्षीकरण, तार्किक यथार्थता तथा वैषयिक मान्यताओं के आधार पर अपने परम्परागत सामाजिक-सांस्कृतिक आधारों का मूल्यांकन करने लगे हैं फिर भी भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था में आधुनिकीकरण के द्वारा हो रहे तकनीकी, आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तनों के बावजूद भी भारतीय सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था के कुछ मौलिक आधार एवं परम्पराएं, नए मूल्य एवं तार्किक दृष्टिकोण से समायोजन एवं सामाजिक गतिशीलता उत्तरोत्तर प्रशस्त हुई है। इस संदर्भ में नगरीकरण, आधुनिकीकरण, पश्चिमीकरण तथा औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया के साथ-साथ जो जनसंख्यात्मक आवास-प्रवास अन्तर्प्रदेशिक स्तर पर हुए हैं, उनमें विभिन्न आब्रजक समुदाय बहु-सांस्कृतिक, बहु-धार्मिक, बहु-भाषायी एवं बहु-पारम्परिक सम्बन्धों तथा अन्तःक्रियाओं की कड़ी में नगरीय समाज के अन्तर्गत एक-दूसरे से निकटता स्थापित किए हैं। इसी पक्ष को मिल्टन सिंगर, 1964 तथा मैकिम मैरिएट 1961 ने क्रमशः लघु से वृहद् परम्परा के रूप में रूपान्तरण तथा सार्वभौमिकीकरण की अवधारणा को अवलोकित किया है। इस पक्ष को योगेन्द्र सिंह 1977 ने अपने अध्ययनों में भारतीय समाज की प्रासंगिकता में भारतीय



परम्पराओं को आधुनिकीकरण की संज्ञा दिया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक समुच्चय के अन्तर्गत अनेकता में एकता का दर्शन होता है। इसके साथ ही साथ परिस्थितिकीय, सांस्कृतिक एवं संरचनात्मक आधार पर समाज के तीन प्रमुख विभाजन देखने को मिलते हैं—

1. जनजातीय समाज
2. ग्रामीण समाज
3. नगरीय समाज

भारतीय समाज के सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि में हो रहे परिवर्तन, विकास एवं रूपान्तरण के स्वरूप को समझने के लिए बहुत से समाजशास्त्रियों के विविध आयामों एवं अभिगमों का प्रयोग कर समसामयिक स्थिति में सामाजिक अन्तःक्रिया, सामाजिक गतिशीलता, सामाजिक व्यवस्थापन एवं सामंजस्य के साथ ही साथ परिस्थितिकीय उत्कर्ष तथा सामाजिक सहभागिता का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। इस दिशा में श्रीनिवास (1962-66) के संस्कृतिकरण एवं पश्चिमीकरण के अभिगमों का प्रयोग, मिल्टन सिंगर (1955-56) के लघु एवं वृहद परम्परा का अभिगम, मैकिममेरिएट (1955-62) का स्थायीकरण एवं सार्वभौमिकीकरण का अभिगम तथा इसी प्रकार आधुनिकता एवं पारम्परिकता के विशेष समन्वयात्मक सन्दर्भ में योगेन्द्र सिंह (1977) का भारतीय परम्पराओं का आधुनिकीकरण सम्बन्धी अवधारणा आदि, वर्तमान परिस्थिति में भारतीय समाज एवं संस्कृति में हो रहे परिवर्तन, समायोजन व्यवस्थापन से उत्पन्न परिवर्तन का प्रतीक है।

इस प्रकार आब्रजित नगर में गैर क्षेत्रीय लोगों के आवासान से नगर के मूल निवासी तथा उनके बीच अनेक विजातीय आन्तरिक संघर्ष आदि पैदा हो रहे हैं, किन्तु कालान्तर में विविध आब्रजक समुदायों में नगर के मूले

निवासियों के बीच मनोवृत्तिय परिवर्तन, अन्तःपारस्परिकता तथा सामाजिक दृष्टिकोण से सात्मीकरण आदि स्वाभाविक हो जाते हैं। इस प्रकार असमान व्यक्तियों तथा समूहों में समायोजन की प्रक्रिया कभी-कभी व्यवस्थापन से आगे बढ़ जाती है। पृथक सामाजिक पृष्ठभूमि एवं परम्पराओं के लोग परस्पर सम्पर्क में जब नगरीय समुदाय के अन्तर्गत आते हैं तो उनके विचारों, आदतों, आदर्शों, मूल्यों आदि सांस्कृतिक कारकों का आदान-प्रदान होता है।

इस प्रकार के विनिमय से ऐसी स्थिति बनती है जिससे उभय सांस्कृतिक सम्मिश्रण तथा सांस्कृतिक निषेचन की व्यवस्था पैदा होने लगती है। प्राचीन काल से ही धर्म तीर्थ प्रधान स्थली एवं परम्पराजनित नगर होने के कारण बोधगया नगर का नगरीय संरूपण एवं स्वरूप ग्रहणशीलता, सहिष्णुता एवं संश्लेषणकारी रहा है। समसामयिक परिस्थितियों में समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से देखा जाय तो बोधगया नगर का नगरीय स्वरूप विगत दो दशकों के भीतर पारम्परिकता एवं आधुनिकता के विलय भूमि या संगम स्थल के रूप में मुखरित हुआ है, जो स्वभावतः विविध प्रादेशिक स्तर के आब्रजकों को आवासन एवं सामाजिक व्यवस्थापन हेतु सहज एवं सुलभ समन्वय तथा एकीकरण

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. A.J. Tynbee : A study of History, Oxford University Press, London, New york, Toronto, 1946.
2. A.F. Weber : Growth of cities in the Nineteenth century, Macmillan, New York, 1899.
3. A.R. Desai : Rural Sociology in India, Popular Prakashan, Bombay, 1970.
4. A. Morges and Muri, The Splendour that was Egypt, New York, 1949.
